

समाज बनाम प्रशासन

मेरी हिंदी आलेख कई वर्षों से "यदा-कदा" रूप में छपते रहे। पुणे में रहने के कारण मराठी आलेख लिखना तुरन्त-फुरन्त हो जाता था। हिंदी लिखने के लिये आलस आडे आता- तो भौगोलिक दूरी का कारण बताकर अपने आपको उचित ठहराने में कोई परेशानी नहीं थी।

लेकिन दिल्ली में पोस्टिंग हुई तबसे कहानी उलटी हो गई। पिछले पांच वर्षों में "जनसत्ता" के लिये काफी लेखन किया। अब सबकी राय से उन्हीं में से कुछ लेखों का संग्रह छप रहा है। कुछेक लेख दूसरे अखबारों में भी छपे हैं जैसे हिंदुस्तान, राष्ट्रीय सहारा, नवभारत टाइम्स इत्यादि।

इन लेखों के मुख्य मुद्दे हैं समाज और प्रशासन! या कहूँ कि समाज बनाम प्रशासन। दोनों ओर से बहस करने वाला मुख्य पात्र मैं, और बहस के अच्छे व कमजोर मुद्दों की निर्णायक या जज भी मैं। इसका कारण भी है।

मैं भारतीय प्रशासनिक सेवा में आई तब एक सपना लेकर कि इस नौकरी के माध्यम से कई सामाजिक कुरीतियाँ दूर करनी हैं- लोगों को बहस और सोच के लिये उकसाना है। लेकिन अपना कर्तव्यभार पूरी सच्चाई और निष्ठा से निभाने के बावजूद भी दिख जाता कि इससे समाज की कठिनाई दूर नहीं हुई हैं। एक अफसर होने के नाते, कानून और शासन व्यवस्था के दायरे में रहकर मैं जो कुछ करूँ, जरूरी नहीं कि उसका असली और समग्र लाभ समाज को मिले। समाज नामक संस्था की भी कुछ अपनी परंपराएँ हैं, मान्यताएँ हैं, मजबूरियाँ भी हैं। इसलिये जब समाज की उंगली नौकरशाही की ओर उठते हुए आरोप लगाती है तो उसमें एक उंगली अपनी तरफ उठी हुई पाती हूँ- अपनी तमाम निष्ठा के बावजूद! इसने मुझे अक्सर सोचने को मजबूर किया कि क्या ऐसा संभव है कि नौकरशाही के अच्छे लोग और समाज के अच्छे लोग इकट्ठे आ कर अच्छाइयों के परिमाण में कई गुना मूल्यवृद्धि करें? लेकिन उसके लिये केवल "एकत्र आना" पर्याप्त नहीं है, हमारी सोच, प्रबुद्धता, और काम करने की दिशा भी एक हो तभी परिमाण में गहराई और व्यापकता होगी।

यही कारण है कि कोई मुद्दा उठे तो मैं पहले देखती हूँ कि यदि मैं "सामान्य जन" होऊँ तो यह मुद्दा मुझे किस प्रकार प्रभावित करेगा? मुझ पर, मेरे सुचारु जीवनयापन की इच्छा पर इसका क्या परिणाम होगा। एक अफसर होने के नाते जो कुछेक सुविधाएँ मेरे पास हैं, वे न रहें तो मैं स्थिती को कैसे झेलूँगी? बाकी लोग कैसे झेलते हैं? इस भुक्तभोगी होने की लालच ने मुझे कई बार ठेलकर "सामान्य जन" की भीड़ में खड़ा कर दिया और चैलेंज दिया कि अब दिखाओ एक सामान्य सज्जन, एक अफसर सज्जन तक अपनी बात कैसे पहुँचाए ताकि उनकी काम करने की दिशा एक हो?

यही कारण है कि जनसत्ता के "दुनियाँ मेरे आगे" स्तंभ के लिये लिखे गए कई लेख ऐसे हैं जो जन सामान्य के प्रश्नों को समाज और प्रशासन दोनों के दृष्टिकोण से देखते हैं। इन लेखों में यह जानने का कोई कि ईमानदार अफसर तमाम निष्ठाओं के साथ कैसे कहाँ और अच्छा कर सकता है, निष्ठा के बावजूद कहाँ प्रयास है, चूक सकता है- उधर समाज के सज्जन व्यक्ति भी अच्छाई को बढ़ाने में क्या योगदान देते हैं और कहाँ चूक जाते हैं। यह पुस्तक नहीं, बल्कि प्रजातन्त्र पर गहन विश्वास रखने वाले मुझ जैसे एक सामान्य व्यक्ति की दुहाई है- कि समाज अपनी राय के प्रति सजग हो, सोचता हो और मुखर भी हो।